कहीं सुबह कहीं शाम

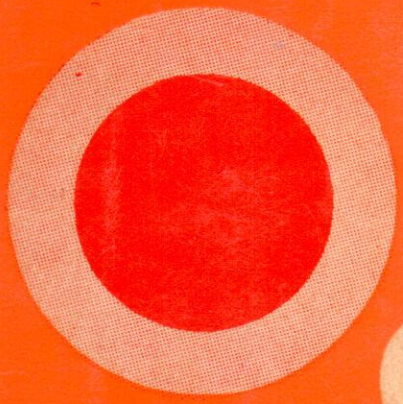

शंकर दयाल सिंह

शंकर दयाल सिंह

साहित्यकार-पत्रकार-युवा-राजनीतिक।

पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भली-भांति परिचित। कई पुस्तकों के लेखक।

1971 से 18 जनवरी, 1977 तक लोकसभा के एक जागरूक सदस्य। हर घटना-चक्र में रथ की कील के समान जुड़े रह कर भी चिन्तन को कभी गिरवी नहीं रखा।

सम्प्रति 'मुक्तकण्ठ' के संपादक; तथा अनेक सांस्कृतिक, साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्ध।

स्थायी पता : कामता सदन, बोरिंग रोड, पटना-800 001

लेखक की अन्य पुस्तकें

● कुछ ख्यालों में : कुछ ख्वाबों में	१०.००
● इमर्जेन्सी : क्या सच ? क्या झूठ ?	२०.००
● कितना क्या अनकहा (कहानी-संग्रह)	५.००
● आरपार की मंजिलें ,,	१०.००
● गांधी के देश से : लेनिन के देश में (यात्रा-वृत्त)	५.००
● अनागत/ऋषिकेश (कविता-संग्रह)	४.००

सभी पुस्तकों के मिलने का पता :

पारिजात प्रकाशन, डाक बंगला रोड, पटना-१

'मेरी आत्मा एक ऐसे पक्षी के समान है जिसके पंख मरोड़े जा चुके हों। आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को देखकर वह तिलमिला उठता है, क्योंकि उसके पंख उड़ान नहीं भर सकते, पर सब पक्षियों की भाँति उसे रात की निस्तब्धता प्यारी लगती है, भोर का समय सुहाता है, और सूरज की किरणें और घाटी का सौन्दर्य उसके मन को मोह लेते हैं। मैं जिस समय लिखता या पेन्ट करता हूँ तो मैं एक छोटी-सी नाव के समान हो जाता हूँ जो अथाह सागर और अनन्त आकाश के बीच तैरती है। अजीब सपने, ऊँची आकाँक्षाएँ, बड़ी-बड़ी उम्मीदें और टूटे हुए या गाँठें जुड़े हुए खयाल—इन सबमें एक वह चीज है जिसे लोग निराशा कहते हैं, पर मैं दौजख कहता हूँ।'

—खलील जिब्रान

1

कहीं सुबह : कहीं शाम

सुबह कहीं और शाम कहीं; दिन कहीं तो रात कहीं। विचित्र हाल है जिन्दगी का। न ठौर, न ठिकाना। न अता, न पता।

और ऐसे ही संदर्भों से रहित जीवन में न जाने कितना घूम-फिर आया। देश भी और विदेश भी। घर भी और बाहर भी। लेकिन रह-रह कर मन में एक टीस उठती थी। सब देखा लेकिन कन्या कुमारी अब तक अनदेखा ही रह गया। और न जाने कितनी बार भाषणों में गला फाड़-फाड़ कर यह चिल्लाया होगा कि कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक·····।

इसीलिए पिछले दिनों देश के इस मनोरम और सुमधुर भू-भाग की यात्रा की और वहाँ पहुँच कर ऐसा लगा कि जिसने कन्याकुमारी के दर्शन न किये हों, वह देश के मर्मस्थल छूने से वंचित रह गया।

बाईं ओर पूरब दिशा में बंगाल की खाड़ी, सामने दक्षिण की ओर हिन्द महासागर और दाईं ओर पश्चिम दिशा में अरब सागर। आँखें बन्द कर कोई अनुमान लगाये कि क्या अद्‌भुत दृश्य रहा होगा इस मिलन का। एक महासागर, एक सागर और एक खाड़ी और सब मिलकर एक। भाव-बोध की चेतना सौन्दर्य-बोधों में परिवर्तित हो जाती है। निहारते-निहारते आँखें थक जाती हैं, दिल नहीं भरता। रूप-रंग-रस और सत्य-शिव-सुन्दर सब एक स्थान पर चिरौरी की मुद्रा में खड़े हो जाते हैं।

गगा-यमुना-सरस्वती का पानी जहाँ मिलता है, स्पष्टतया वहाँ तीनों नदियों का भेद दिखाई दे जाता है। एक का पानी सफेद दूसरे का नीला और तीसरे का अन्दर से फूटता सोते के समान। और ठीक इसी प्रकार विज्ञ-यात्री और नाविक तीनों सागरों का अन्तर और पानियों का भेद बता देते हैं।

लेकिन मेरे समान यात्री को क्या भेद करना है—सागर और खाड़ी और महा सागर में। मुझे तो सागर की लहरों का बेहिसाब निमन्त्रण बार-बार अपनी ओर आकर्षित करता है। मुझे तो सागर की लहरों की अनन्तता अपनी ओर बुलाती सी नजर आती है। मुझे तो सागर के पार क्षितिज का जो छोर दिखाई देता है, वही रह-रह कर अपनी मंजिल नजर आती है।

थल, पर्वत, वन, उद्यान और ऐसे ही एक से अनेक रमने-घूमने-देखने की प्राकृतिक-अप्राकृतिक वस्तुएँ मुझे एवं मेरे समान हर यात्री को पसन्द हैं, लेकिन सागर का किनारा, उसकी अनन्तता, उसकी दिल फेंक लहरें, उसका शोख कल्लोल, उसके किनारे की बालुका राशि, बालुओं में छिपे सीपियाँ और शंख—सबके सब मुझे सबसे अधिक प्यारे हैं।

इसीलिए जब कभी मैं सागर के तीर पर होता हूँ तो अपने आप में खो जाता हूँ, दिशा-हारा राही के समान, जो अपनी भटकनों में ही कैद रहता है। संज्ञा-चेतना-वाह्य ज्ञान सबसे परे कहीं ऐसी चेतना मुझे लील लेती है जो पुरुष और प्रकृति का अपना संभाग है।

कन्याकुमारी, केप कॉमरिन, कुमारी अन्तरीप जो भी कह लीजिये इसे, सभी एक ही ज्ञान मीमांसा के तीन नाम और तीन तत्व हैं। मैं यहाँ आकर देवी कन्याकुमारी के दर्शन की अधीरता नहीं दिखाता और न तो विवेकानन्द शिला खण्ड में जाने की आतुरता ही मुझे होती है। मैं तो सागर के उत्ताल तरंगों में खो जाता हूँ—जहाँ जीवन की अनुभूतियाँ ही नहीं, अभिव्यक्तियाँ भी मिलती हैं। जहाँ सौरभ को पराग और पराग को मुस्कान और मुस्कान को अधर और अधर को चुम्बन की प्रतीति होती है।

फाहियान और ह्वेनसांग और फारुकसियर और कोलम्बस और वास्को डिगामा जैसे विश्व-यात्रियों ने क्या देखा और क्या पाया इसका लेखा-जोखा मैं नहीं जानता, लेकिन ऐसा यात्री जब खुली आँखों से यात्रा के दौरान निकलता है तो उसे यही लगता है कि वह आँखों में सब कुछ भर ले और अंजुरियों में इन अक्षय कोषों को समेट कर मुट्ठियों में बन्द कर ले। □

2

यायावरी के क्षण

किसी ने सजा नहीं सुनाई थी, अपराध भले ही मैंने कितने सारे किये हों और मैं 'कालापानी' के लिए विदा हो गया। लोकमान्य तिलक अण्डाले में रहे थे यह पढ़ा था, पं० कमलनाथ तिवारी जी कालापानी की स्मृतियाँ दोहराया करते थे, श्री सूर्य्य नाथ चौबे सजा भुगत कर अण्डमान-निकोबार से जब लौटे तो उनका सम्मान बढ़ गया और बचपन की स्मृतियों में एक उस महिला की तस्वीर भी आ खड़ी होती है, जिसका पति 'कालापानी' गया तो वहाँ से वापस लौटकर नहीं आया।

कलकत्ता से जिस जहाज से विदा हुआ उसे देखकर गुस्सा नहीं आता, लेकिन करुणा जरूर ऊपजती है। असल में आदतें बिगड़ गई हैं—'बोइंग' पर चढ़ते-उतरते, 'डकोटा', 'वाइकाउंट' आदि बचकाने लगते हैं, वैसे ही जैसे 'राजधानी' या 'डिलक्स' ट्रेनों में चढ़ने के बाद पैसेंजर-ट्रेनों में सफर करना सरदर्द मालूम होता है। पोर्ट-ब्लेयर जाने वाला यह जहाज भी ऐसा ही है—'वाइकाउन्ट', छोटा ४०-५० यात्रियों को ढोने वाला और उड़ान भी सरल-तरल।

जा रहा हूँ अपने ही देश के एक भू-भाग में, लेकिन पासपोर्ट और हेल्थ-सर्टि-फिकेट की आवश्यकता होती है और 'कस्टम' होकर जहाज की ओर जाना पड़ता है। यह जहाज रंगून होकर जाता है, जहाँ एक घण्टे का टेक्निकल पड़ाव है, इसीलिए इन विदेशी औपचारिकताओं की आवश्यकता होती है, हालाँकि यह बड़ा विद्रूप-सा लगता है कि अपने ही देश में जाओ तब भी पासपोर्ट आदि ठीक करवाओ।

मेरी समझ में होना यह चाहिए था कि बर्मा-सरकार से बातें तय होतीं कि एक घण्टे का यह 'टेक्निकल-पड़ाव' इन औपचारिकताओं से बरी हो जाए।

हवा में डैने फैलाये किसी चील के समान हमारा जहाज चला जा रहा है—एक सीमा से दूसरे की ओर। गगन का विस्तार किसी अयाचित प्यार-सा खुला होता है। नीलिमा, जो रह-रहकर हरीतिमा का बोध करा जाती है, 'खुला आकाश मेरे पंख' के समान उड़ते जहाज का स्वर कभी-कभी सिसकियों में खोये किसी अभागी कहानी की सृष्टि करता है, कभी सीटी बजाते किसी आवारा छोकरे की नियत के समान अस्पष्ट बोध कराता है और कभी किसी मासूम 'आह' के समान अनुगूंज छोड़ता है।

नीचे भी वही नीला जाल फैल गया है। पहाड़ हो, जमीन हो, घर-मकान हों, समुद्र हो, नदी-नाले हों-सबों की आकृति विकृति के समान इस ऊंचाई से दिखाई देती हैं। बीच-बीच में बादल आँख-मिचौनी खेलते हुए ढाल के समान या घूंघट के समान आकर खड़े हो जाते हैं।

मेरी बगल की सीट पर ४-५ वर्ष की एक गुड़िया-सी लड़की आकर बैठ जाती है। उसके घुँघराले बाल, सफेद फ्राक, गोरा गोल मुखड़ा, हंसमुख चेहरा किसी छोटी परी की अनुकृति के समान मेरी आँखों में नाचने लगता है।

लड़की जरा भी न सकुचाती है, न डरती है, न औपचारिकता रखती है। रह-रहकर मेरी बाँहों में झूल जाती है—अंकल, यह जहाज किस चीज पर जा रहा है ?

—आस्मान पर।—मैं बहलाने की कोशिश करता हूँ।

—नीचे क्या है, अंकल ?—मेरी गोद में बैठकर वह खिड़की के शीशे में अपना सिर सटा देती है।

—नीचे, नीचे-जंगल है, जंगल में शेर, चीता, भालू, बन्दर, हाथी सब कुछ हैं।—मैं उसे बहला रहा हूँ।

लड़की बहुत चंचल है। एक मिनट भी स्थिर रहने के लिए तैयार नहीं है। मैं निमाई भट्टाचार्य की पुस्तक 'डिप्लोमैट' पढ़ रहा हूँ, लड़की मेरे हाथ से लेकर उसे रख देती है—अंकल इसे मत पढ़ो, मुझे बताओ। जहाज के ऊपर क्या है और नीचे क्या है ?

—ऊपर आस्मान है और नीचे धरती है।—मैं कहता हूँ, लेकिन उसे संतोष नहीं होता।

—और भगवान कहाँ रहते हैं ?—वह सहज जिज्ञासा से मुझसे पूछती है। मैं भला इसका क्या जवाब दूँ ? रात-दिन फुसलाते-बहलाते-झूठ बोलते समय बीतता है, लेकिन भगवान के सम्बन्ध में इस अबोध बालिका के इस बोधमय प्रश्न का क्या उत्तर दूँ। और अगर कुछ भी कहूँ तो वह कहाँ तक संतोषप्रद होगा।

लड़की मेरी चुप्पी भाँप जाती जाती है—अंकल, तुम नहीं जानते····· भगवान भी आस्मान में रहते हैं।

मैं हंस देता हूँ, लड़की मेरी हंसी की नकल करती है।

तुम्हारा नाम क्या है ?—मैं पूछता हूँ।

नहीं बताऊँगी।—वह मचलने लगती है, वैसे ही जैसे मिठाई या टाफी या किसी खिलौने के लिए मचले।—नाम नहीं बताओगी तो मैं तुमसे नहीं बोलूँगा।—मैं कहता हूँ।

—नेहा।—लड़की मुझे किसी प्रकार नाराज नहीं करना चाहती।

मैं नहीं जानता कि यह लड़की कहाँ की है. कौन है, किस माता-पिता की सन्तान है, किस क्लास में पढ़ती है और न तो जानना ही चाहता हूँ। मेरा उसका सम्बन्ध है, कुछ घण्टों और मिनटों का, दमदम से पोर्टब्लेयर तक का—उसके बाद जीवन की अनजान सफर में यह कहाँ और मैं कहाँ ? लेकिन यह कुछ घण्टों का साथ, इस छोटी बालिका का मोहने वाला निष्कलुष अपनापन, भोली-भाली बातें, अनौपचारिक सवाल क्या कभी भुला सकूँगा ?

बच्ची मुझसे इस प्रकार हिल-मिल गई है और रह-रहकर मेरे पीठ के ऊपर पहुँचकर ऐसा ऊधम मचा रही है, जैसे यह बिल्कुल मेरी ही बच्ची हो या जन्मकाल से ही इसे मैं जानता होऊँ, वैसे ही जैसे रंजू, राजेश या रश्मि। मुझे बड़ा अच्छा लगता है—यह प्रेम, यह मनुहार, यह स्वच्छ मुस्कुराहट, यह फूलों वाली हंसी और यह खिलने वाली गुदगुदी।

सोचता हूँ—कितना अच्छा होता यदि आदमी बड़ा होकर भी बच्चों वाली सरलता और निष्कपटता सीख पाता, तो फिर दुनियाँ में चाँदी-सी रातें और सोने से दिन हुआ करते।

बर्मा की भूमि आ गई है और रंगून आ रहा है। जहाज नीचे की ओर उतरने की तैयारी में है। नदियाँ, पानी से भरे खेत, मेड़ों पर किसान, पेड़-पौधे, घर-मकान सब भारत से मिलते-जुलते दिखाई दे जाते हैं। बचपन में पढ़ी गई पुस्तकें याद हो आती हैं, नक्शे सामने आकर खड़े हो जाते हैं। वर्मा, लंका, तिब्बत, नेपाल, भूटान-सबका सब भारतीय नक्शे का हिस्सा हुआ करता था और आज स्थिति-परिस्थिति कितनी बदल गई है।

रंगून-एयरपोर्ट साफ-सुथरा खूबसूरत-सा एयरपोर्ट है। दुकानों को देखकर ललचा जाना पड़ा। दाम अमेरिकन डालर में लगे थे और उसी से ले सकते थे, वह था नहीं, हालाँकि मूल्य जरूरत से बहुत अधिक महंगे लगे। नाश्ता-चाय-कॉफी कुछ भी नहीं कर सकते थे अपरिचित पैसों के कारण।

सोचता हूँ, सबके बावजूद यह तो कहने को हो ही गया कि रंगून भी गया हूँ।

हवाई अड्डे पर यहाँ की अधिकांश स्त्रियाँ और पुरुष बर्मी लिबास में थे, लुंगी और चोलीनुमा बुशर्ट, नाटा-ठिगना कद, गेहुँआ रंग और ठुमकती सी चाल।

भिनभिनाती मक्खियाँ, चिलचिलाती धूप, पिचपिचाती गर्मी और गमगीन दोपहरी—इनका ही दर्शन हो सका—रंगून एयरपोर्ट पर। शीशे के अन्दर बन्द 'ड्यूटी फ्री शाप' की चीजें देखता हूँ और नजर फेर लेता हूँ—जब खरीद नहीं सकता, तब आँखों को सेंकने मात्र से क्या फायदा।

जीवन में सन्तुलन का बहुत बड़ा स्थान है। अभावों और भावों के बीच का सन्तुलन, इतिहास और भूगोल के मध्य का सन्तुलन और आदमी के दिल और दिमाग के बीच का सन्तुलन।

देखो मगर छूओ मत, छूओ मगर छेड़ो मत, छेड़ो मगर परख के साथ और जो कहीं तारतम्य गड़बड़ाया, तब फिर सम्भाल पाना कठिन हो जाता है।

अच्छा भी है और बुरा भी है कि जीवन का अधिकांश भाग निकल जाता है भाग-दौड़ में ही। काल-चिंतन की प्रक्रिया सीमित-शेष अनुभूति और विश्वास के परे है। और सब कोई योगी अरविन्द हो भी नहीं सकता। सिमटाने की आवश्यकता होती है अपने आपको और यहाँ आदमी है जो स्वभावतया चाहता है कि जाल फैलाये रहो और अपने आपको बिखराये रहो।

सहज चिह्नों को प्रतीक रूप में ग्रहण करके चलना सम्भवतः आज की सबसे बड़ी अनुभूति हो। और मेरा विश्वास लहरों के राजहंस के समान किसी वीणा के तार को राग विहाग देने को मचलता रहता है—सम और सम्यक। वीणा के तारों को इतना न कसो कि वे टूट जायें और उन्हें ऐसा ढीला भी न छोड़ो, कि वे बजने न पायें। □

3
मुसाफिर हूँ सारे जहाँ का

"इस बार कुछ भी लिखना-विखना मत। न रेडियो के लिए 'टॉक' और नहीं 'मैगजिनों' के लिए कोई लेख और न किसी को पत्र।"—दिल्ली छोड़ने के पहले किसी की यह सख्त हिदायत मिली।

बलगारिया की राजधानी सोफिया के लिए दिल्ली से रवाना हुआ २३ फरवरी ७५ की भोर में ४ बजे। इस प्रकार पूरी रात आँखों में बिताने के बाद पालम पहुँचा ही था कि विदा देने आये बलरामजी और रामसरन जी ने दौड़ते हुए कहा कि फ्लाइट की आखिरी घोषणा हो गयी है, जल्दी कीजिए। कस्टम आदि का रस्मोरिवाज मिनटों में निबटाकर 'एयर इंडिया' बोइंग ७०७ पर आया मास्को के लिए, जहाँ से 'बल्कान एयर लाइन्स' से सोफिया जाना है, तो बजाय आँखों में नींद आने के सपने की तरह भावनाएँ ज्वार लेने लगीं।

अक्सर मेरे साथ ऐसा ही होता है। जब कभी रवाना होता हूँ—खास कर हवाई जहाज से तो भावनाएँ वैसे ही पेंग मारती हुई आगे-पीछे होने लगती हैं, जैसे आकाश में बादलों के टुकड़े। आज भी ऐसा ही होने लगा। लेकिन बलात् आँखें बन्द कर सोने का प्रयास कर रहा हूँ —लेकिन लगता है कि आँखों में और सपनों में लुक्का चोरी का खेल चल रहा है। नींद की जगह सपने आ रहे हैं, कुछ जागते, कुछ सोते, कुछ हँसते, कुछ रोते, कुछ गाते, कुछ फुदकते, कुछ मीठे, कुछ कड़वे।

बलगारिया की राजधानी सोफिया में वहाँ की 'एग्रेरियन पार्टी' की ७५वीं वर्ष गाँठ में भाग लेकर, सोफिया के सबसे बड़े होटल 'पार्क होटल मस्क्वा' में छः दिन रहकर, ब्लैकसी के किनारे का बहुत ही मनोरम और खूबसूरत शहर वारना घूमकर, मास्को में दो दिन और एक रात बिताकर दिल्ली वापस जा रहा हूँ—एयर इंडिया के उसी विमान से, जिससे आज के आठ दिन पहले भारत से चला था।

लगता है कि पैदा ही हुआ था कुछ ऐसे नक्षत्र में जब आकाश बादलों की उमड़-घुमड़ से भरा था और दादुर-मोर-पपीहा अपना राग अलाप रहे थे। तभी तो पाँवों में ऐसा चक्कर लगा है कि कहीं भी एक जगह दो-चार दिन ठहरना